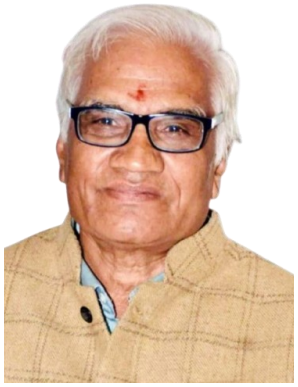

बी.एल. आच्छा

लघुकथा : सृजन भूमि और समालोचना

साहित्य एक व्यापक संज्ञा है और विधाएँ उसकी अभिव्यक्ति का सहज प्रतिबिम्बन। विधाओं की विषयगत या भावगत अनुरूपता होती है। मसलन गीत के लिए जो अंतरंग भाव सघनता की लय चाहिए तो कथा-कुल के लिए गद्य का पठार | पर ऐसा भी नही कि कविता में लय ही लय होती हो और कथा- कुल में भाव- सघनता से रिश्ता- नाता न हो। इसीलिए आज की कविता में गद्य-अभिव्यक्ति ने भी ताल ठोककर पहचान बनाई है और कथा -साहित्य भी गद्य- गीत की लय में संक्रमित हुआ है। यह परिवर्तन जब रचनाओं में घटित होता रहता है ,तो आलोचक की दृष्टि इस बदलाव को परखती है। और जब युग- सापेक्ष संवेदन या वैचारिक संबोध में भावान्तर आता है, तब भी वह पड़ताल का विषय बनती है। तो क्या इस बदलाव की किसी सुनिर्धारित शास्त्र से फॉर्मेट से, सुनिश्चित मानकों से तौलना चाहिए? स्पष्ट है कि रचना में बदलाव आया है और वह प्रवाह यदि कन्टेन्ट और फॉर्म में भी उतरा है, तो मानदण्ड स्थायी नहीं हो सकते |

रचना का तापमान अलग तरह का है, तो बेरोमीटर भी बदलाव के लिए प्रतिश्रुत है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि पुराना शास्त्र खारिज हो जाता है और नये को परखने की दृष्टि ही पुराने शास्त्र के हिसाब से बेगानी हो जाती है। कालिदास जब 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम् 'की बात करते हुए नये की प्रतिष्ठा करते हैं ,तो तय है कि रचनाधर्मिता में बदलाव आया है, फिर कसौटी में भी बदलाव आएगा! आखिर बासी उत्तरों से भी नये सवाल खड़े होते हैं। और साहित्य तो उस रमणीयता का उपासक रहा है। जो कहता है- 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः।" कालिदास साहित्य में इसी प्रयोगविज्ञान के उपासक थे। लघुकथा हो या साहित्य की अन्य विधाएँ, ये सभी नवोन्मेषी प्रयोगशीलता की माँग करती हैं। क्योंकि युग बहुत गतिशील है, तकनीक और विचार में भी ; इसलिए साहित्य में यह गतिशीलता और बदलाव दशक-पंचक में उतर आये है।

समीक्षा या आलोचना रचनापेक्षी है। शास्त्र तो एक तरह से नौसीखियों के लिए सधी हुई सीढ़ियाँ हैं। पर वे भी इतनी सुगठित है कि न तो छठी शताब्दी के आचार्य भामह की अनदेखी की जा सकती है, न आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र की। हिन्दी में यह बात आचार्य शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति अनेक आलोचकों की परंपरा मे पुनराविष्कृत हुई है। वामपंथ में भी और रसवादी आनंद धारणा में भी पर बदलाव बहुत आये हैं। मार्क्स, फ्रायड, पूँजीवाद, आधुनिकता, उत्तर- आधुनिकता, ग्लोबल से गुजरते हुए और नयी विधाओं के रूपांकन के साथ उनके निरन्तर बदलाव में भी।

अब किसी फार्मेट या चौखट से बंधकर लिखना संभव नहीं है। यों भी साहित्य हर काल में परम्परा का अतिक्रमण करता है। यदि घनानंद कहते हैं कि - "लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मोरे कवित्त बनावत।" लक्षणों के आधार पर निर्मित काव्य- व्यक्तित्व एक बात है और स्वानुभूत प्रयोगविज्ञान से निर्मित व्यक्तित्व नितांत अलहदा। इसीलिए शास्त्र को रचनात्मक व्यक्तित्व के विकास की सीढ़ियां कहा है, व्यक्तित्व का मूर्ति स्थापन नहीं| रचनाकार पुरानी मूर्तियों को गला भी देता है, तो नये आविष्करण के लिए । इलियट इसे ट्रेडिशन एंड इन्डिविज्युअल कहते हैं। हम भी जानते हैं कि जब कोई विधा ऑटोमेटिक सी हो जाती है, यहाँ तक कि रचना किसी प्रवाह या वाद- संबद्ध भी तो उसपर भीआघात होता है। नयी रचनाधर्मिता अतिक्रमण करती है। पर आलोचक के लिए उन्हीं सोपानों का यानी शास्त्र का ज्ञान जरुरी है। और रचनाधर्मिता में आ रहे बदलावों को चीरकर देखने की नयी दृष्टि भी। साथ ही इन बदलावों के पैटर्न को समझकर शास्त्रीय दृष्टि को नवनवीन बनाने की। रचना भी बदलती है और शास्त्र भी बदलता है। रचना को समझने के लिए शास्त्र भी जरूरी हैं और रचना के बदलाव को समझने के लिए लोचदार शास्त्रीय दृष्टि भी।

रचना का अस्तित्व भाषा की सत्ता में होता है। भाव संवेदन की दृष्टि से और बुनावट की दृष्टि से भी। रचनाकार भाषा की अनेक कोटियों का संदर्भित विषय के अनुसार चयन करता है और यह संगठित रूपांकन ही रचना के भीतर तक, उसकी अंतर्वस्तु तक ले जाता है। अलबत्ता संस्कृत काव्यशास्त्र में भाषा को आधारभूत मानते हुए भी रस और ध्वनि की वकालत की है और आत्मवादी तथा देहवादी के तात्विक भेद से अलगाये रखा है। पर रचना की अखंड सत्ता कथ्य और रूप के अद्वैत में हैं, इसलिए भाषा में रची अंतर्वस्तु तक भाषा के माध्यम से ही जाना होता है। समूची रचना एक महावाक्य है और त्वचा को फोड़कर निकलने वाला शक्तिमय चूजा या ध्वन्यार्थ भी उसी संरचना से फूटता है। बनावट और बुनावट के भीतर जो ध्वनि है, संदेश है, संवेदना है ,वह भाषा के ही अन्तर्जात हैं। उसका मीनिंग एरिया बहुत लंबा हो सकता है, शब्दों के कोशीय या लाक्षणिक अर्थों को छिटकाकर हो सकता है, वह फूटता तो भाषा से ही है।

पुनः शास्त्र पर लौटना चाहूँगा | समीक्षा के दौरान रचना जितना प्रभाव छोड़ती है, उतना ही समीक्षा शास्त्र या आलोचना के मापदण्ड बिनकहे सहयात्री हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्हीं पायदानों से गुजरकर सफल होते हैं। बल्कि रचना में नये बदलाव दिखते हैं, तो पुराने हूक नहीं मचाते, बल्कि बदलाव को रेखांकित करते है। उस बदलाव से रचना में आए नये आस्वाद को तौलते हैं और यदि वह युगीन या व्यक्ति वैशष्ट्य (idiosyncracy) से अनुप्राणित हैं, तो शास्त्र को भी परिमार्जित या संशोधित करते हैं। यह रचना की ताकत है, इसीलिए तो रामचरितमानस आचार्य शुक्ल को लोकमंगलवादी उन्मेष देती है। प्रेमचन्द को प्रगतिशीलता से जोड़ती है और भाषिक तौर पर नव प्रवर्तनों को पुराने में योजक बनाकर शास्त्र को भी नवनवीन बनाती रहती है। तात्पर्य यही कि शास्त्र और विचारधाराएँ, युगीन परिप्रेक्ष्य और प्रयोगविज्ञान के शैलीगत नवाचार समीक्षक के अंतरंग पार्श्व में सक्रिय रहते हैं,।पर वे रचना के संवेदनात्मक प्रवाह में बाधक नहीं, बल्कि संप्रेषणीयता के सतर्क साधक या प्रश्नशील संवेदी के रूप में बने रहते हैं।

अब सभी विधाओं की अपनी अपनी विशिष्टताएँ हैं। साहित्य मनीषी किसी एक विधा का ही पारखी बनकर नहीं रह जाता। यों भी कलाएँ अंतर-अनुशासी होती हैं। संवेदन भी अनेक ज्ञानधाराओं से अन्तर्भूत । और प्रयोगशील रचनाकार समय के संवेदन से अपने भीतर के तर्क को जितना पुष्ट करता है, उतना ही अभिव्यक्ति के नये शिल्पों की तलाश करता है। और करते- करते अन्य विधाओं की विशिष्टता से अपने कथाविन्यास को रूप देने के नयेपन तक जाता है।

तो विधागत अन्त:संक्रमण से जो विशिष्टता आती है, उसे भी पहचानना ही होगा। मसलन लघुकथा का उपदेशात्मक, बोधात्मक रूप अपने नरेटिव में ही होता था, कथाकथन की पद्धति में। जब उसे नाट्य और विज्युअल से रचा गया, , तो शिल्प के साथ संवेदन की प्रेषणीयता का नया प्रतिमान बना ,तो लघुकथा और जीवन्त हो गयी। अभिनय के योग्य और विज्युअल माध्यमों में भी प्रभावी ।इसलिए रचना को शास्त्र के अनुरूप तौलने के बजाय रचना को चीरकर नये शिल्प- संवेदनकी पड़ताल करते हुए शास्त्र को भी, नजरिये को भी संशोधित और नवनवीन बनाना होगा। पढ़ते समय रचना कहाँ कहाँ झटका देती है? कहाँ कहाँ शब्द अलग ही अर्थ ध्वनित करते हैं? कहाँ मोड़ और यति-गति चौंका कर नये अर्थ तक ले जाती है? एक संवेदनशील सहयात्री और और का अर्थविज्ञानी के तौर पर आलोचक हर घुमाव और बदलाव को पकड़ता है। यह जितना सहृदय है, उतना ही तत्वान्वेषी भी ।

बात लघुकथा की। कहा गया है कि गद्यकुल की यह सबसे छोटी विधा है। यों उसके उत्स वेद- उपनिषद्, रामायण-महाभारत, जैन-बौद्ध कथा, पंचतंत्र, कथासरित्सागर उपदेश - बोधकथा में हैं ।और अवशेष आज की लघुकथाओं की बुनावट में भी झलक जाते हैं। पर अब इसका आविष्करण नया है। संवेदन और रूपाकार में भी। वैचारिक संस्पर्श और बुनावट में भी झलक दे जाते हैं। और यह भी दोनों स्तरों पर प्रयोगधर्मी बना रहेगा। पहली बात आती है कि क्या समीक्षक को आकार की लघुता शब्द संख्या के आधार पर तय करनी चाहिए? मैं शब्द- संख्या या आकार में नहीं अटकता! बात इतनी सी हैं कि जिस सूक्ष्म को, क्षण को, संवेदन को, व्यंग्य को, संदेश को, यथार्थ को रचनाकार लघुकथा में रचना चाहता है, वह यति- गति से गुजरती हुई लघुकथा में कितनी एकाग्रता से उस शिखर तक ले जाती है। अब उसमें अंतःप्रेरणा हो, अन्तर्द्वन्द्व हो, मनोविज्ञान हो, समस्यापरकता हो, नाटकीय मोड़ हो, चक्रव्यूह हो, छोटे छोटे समीकरण हों, कल्पना हो, यथार्थ हो, कथा का ताना- बाना हो, कथा- रस हो, दर्शन हो, अंतर्विरोध हों, बिम्ब हो, प्रतीक हो, विरोधी रंग-योजना हो, मगर वह सब एक देशीय और एक दिशायी हों,।सब समेटते हुए त्वरा से अपने शीर्ष संवेदन पर नुकीले स्पर्श से व्यंजित हो जाएं। यह स्पर्श-व्यंजना प्रतिक्रिया हो सकती है, विरोध हो सकता है, कोमल का उभार हो सकता है, न्याय की पैरवी में उठा हाथ हो सकता है, विवशता की बॉडी लैंग्वेज हो सकती है। और... और... पर अंतर्गठन तो उत्स से लेकर पूर्णता तक एक दिशा, एक गंतव्य। अब इसे कितने शब्दों में रूपाकृत किया जाए तो शास्त्रीय निर्देश भी साधक हैं- 'अन्यूनातिरिक्तत्वं मनोहारिणी अवस्थितिः। न कम न अतिरिक्त

शब्द- रचना मनोहारी होती है। तय है कि कथा भी होगी, कथारस भी, ध्वनियाँ भी, शब्द भी, संवाद भी, कथानकीय मोड़ भी, दृश्य-नाट्य भी, परिवेश भी, चरित्र का केंद्रीय संघटन भी, संदेश की दिशा भी। मगर सारा लक्ष्यधावन तो उसी अंतिम बिन्दु के लिए समर्पित, जिसके लिए कथा का रचाव है। इसलिए न प्रासंगिक कथाजाल, न बहुचरित्रीय, न परिदृश्यों की पट्टभूमि ।तंतुजाल तो हो लता की तरह, पर उसी में कोई फूल खिलकर मुखर हो जाए। संपूर्ण लता की बात नहीं, केवल एक पुष्प के लिए जो तंतुजाल बुना जाता है, बस उसी के प्रतीक के रूप में।

अब कई बार यह भी कहा जाता है कि क्या दो काल और दो कथाएँ समांतर रूप से नहीं चल सकतीं? मेरा मानना है कि हर्ज नहीं है क्योंकि युगांतर को दर्शाने के लिए ऐसा हो सकता है, पर समांतर योजना का उद्देश्य भी एक बिन्दु पर जाकर विस्फोट करना है। उदाहरण के लिए भृंग तुपकुरी की लघुकथा'बादशाह बाबर का नया जन्म' मे बाबर की शहंशाही सल्तनत और राजेश की बेबसी विरोधी रंग योजना में समांतर कथानक रचते हैं, पर दोनों ही विवशता के शिखर पर

माइक्रो हो जाते हैं। या अशोक वर्मा की 'खाते बोलते हैं 'के कालान्तर के तीन पर दृश्य। पर मार तो अंतिम परिदृश्य के 'रामभरोसे' के व्यंग्य और सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर ही है। इसे काल दोष मानने की जरूरत भी नहीं। लघुकथा चाहे आतिशबाजी में तीर की तरह आकाश में नुकीले क्षण पर विस्फोट कर अपने रंग बिखराये या चक्री की तरह घुमावदार होकर जमीनी वृत्त में ही बिन्दु विशेष को जगमगा दे, पर उसका वृत्त समूचे परिदृश्य या चरित्र को प्रकाशी बनाने का नहीं है। "क्षण को सीमित अर्थ में लेना ठीक नहीं, उसके साथ वह अनुभूत चक्र भी है, जो एक दिशा में ही एक अपनी अणु- व्यंजना पर संकेन्द्रित होता है। लघुकथा एकरेखीय नहीं है, वह मनस्थितियों का संघर्ष भी है, विरोधों की तल्खी भी है, तटस्थता की चुप्पी की भीतरी व्यथा भी है, समाजशास्त्र का छोटा सा एकांश भी है, चरित्र की माइक्रो झलक भी है। और इतना जरूर है कि सारा कथाविन्यास अपने व्यंजक शीर्ष के लिए समर्पित हो। लघुकथा न बौन्साई है, न कहानी का लघु- संस्करण। इस सूक्ष्म, इस क्षण, इस शीर्ष, इस अणु, इस मेक्रो की संघनित अभिव्यक्ति का पूर्ण बिम्ब उतरकर आ जाए और वह कहानी में परिवर्तित होने की संभावनाओं को भी यह जतला कर समाप्त कर दे कि इससे व्यंजना का घनत्व बिखर कर अपनी क्षमता को खो देगा। तय है कि ऐसी बुनावट लघुकथा को संक्षिप्त आकार ही देगी, क्योंकि यह सौ मीटर की दौड़ है, मैराथन नहीं। तलवार, कटार और चाकू तीन अलग अलग हथियार हैं, उसीतरह आज कथाकुल की सबसे छोटे आकार की लघुकथा अब विधारूप में स्थापित है, शब्दों की संख्याके आधार पर नहीं, स्वरूप की संभावित पहचान के आधार पर।

यह पहचान लक्षणों पर आधारित नहीं, लक्षणों को सिद्ध करते हुए नवोन्मेषी हो।और यह स्वरूप समय और बदलाव के साथ बदलेगा, स्थिर नहीं रह सकता। नहीं कहा जा सकता- 'इदमित्थम् ।' अब भाषाविज्ञान को ही लीजिए | जनता में व्याकरण की एक अन्तर्निहित व्यवस्था(Language of competance) होती है, और साहित्यिक अभिव्यक्ति में एक नयी संभावनाओं का कौशल(Language of performance) ।उसी तरह विधा के आधारभूत लक्षण नयी संभावनाओं के साथ सदैव अतिक्रमण करते हैं।नया स्वरूप देते हैं। कहना यह भी चाहिए कि कई बार जीवन के सूक्ष्म अनुभव कहानी, उपन्यास में मे बड़े कैनवास के घटनाक्रम में नहीं आ पाते, लघुकथा ऐसे अहसासों, क्षणों, संवेदनाओं, व्यंग्यों, अनुभूतियों को सहज ही उठाकर क्षण को चरितार्थ कर देती हैं।

यों कथा साहित्य की समीक्षा के लिए एडगर एलेन पो ने छह तत्वों का निर्देश दिया था और आधारभूत -सोपान के रूप में किताबी दुनिया में मौजूद हैं- कथानक, पात्र, संवाद, भाषा-शैली, देशकाल और उद्देश्य | ये सभी आज भी कथा साहित्य की हर विधा में मौजूद हैं। मगर तत्वों के विन्यास से न कथा बनती है, न सफलता का प्रतिमान बनती है। बदलाव यहाँ तक हुआ है कि कहीं परिवेश और पात्र के मनोविज्ञान से ही कथा बन जाती हैं, घटनाचक्र या कथानक तो नयी कहानी में 'कथानक के ह्रास की विशिष्टता में बदल गया था। अलबत्ता कथा- तत्व का नियोजन लघुकथा में वात्याचक्र को भी गढ़ता है, कुतूहल की सृष्टि करता है, पात्रों की मनस्थितियों को उभारता है, आरोह-अवरोह या घात- प्रतिपात से तर्क की दिशा गढ़ता है, संदेश या शीर्ष की अभिव्यक्ति के लिए मुकम्मल सोपान रचता है, कथा -रस से पाठक को बाँधे रखता है, एक जीवंत जैविक संरचना के रूप में मनोमय अनुभव को रचता है, कथाचक्र में परिवेश और मनोविज्ञान को भी गूँथता है, पर हर लघुकथा अपने सत्व के लिए नया स्वरूप, नया बिम्ब गढ़ती हुई आती है। प्रयोग के तौर पर ऐसी भी लघुकथाएँ देखी जा सकती हैं, जिनमें वैसा परंपरित कथानक नहीं है। मसलन अशोक भाटिया की लघुकथा' स्त्री कुछ नहीं करती है' और मेरी लघुकथा 'अस्तित्व' में।

फिर भी इनमें क्रियात्मकता पूरा बिम्ब बनाती है। इस प्रायोगिकता की सार्थकता की नाप यही है कि वर्णनात्मक क्रियाशीलता में कोई चरित्र, कोई संदेश, कोई विवशता, कोई विडम्बना कथानक की तरह ही उसे वहन करने में सक्षम हो पाई है या नहीं।

कथानक संरचना का संस्कृत में प्रतिमान था और वह नाटक में एक रूढ़ प्रतिमान - आरंभ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।इसमें कथा विकास की सोद्देश्य क्रियाशीलता है। दरअसल इसमें भी कथा चक्र की दिशा तो है, पर यह शास्त्रीय प्रतिमान इसलिए काबिज नहीं रहा क्योंकि फलवादी सुखांत के स्थान पर यथार्थवादी और अकसर विवशताओं का दुखांत जमाने के सोच में प्रतिमान बन गया। तय है कि जो आदर्शवाद हिन्दी लघुकथा की विकास यात्रा में अयोध्याप्रसाद गोयलीय या कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर में था, वह समय सापेक्ष होकर यथार्थ, विडंबना, विसंगति, विवशता, विरोध से गुजरता हुआ कभी तनी हुई मुट्ठियों का कथाचक्र बन गया।या अन्तर्विरोध अंतर्द्वन्द्वों में पाठकीय स्पर्श बन गया। यह बात इसलिए कहना जरुरी हुआ कि किस तरह से समय, नजरिया और नवोन्मेषी संभावनाएँ शास्त्र का अभिमुखीकरण चाहते हैं,।और ओरिएन्टेशन के अभाव में सिर्फ पुराने साहित्य तक सिकुड़ कर रह जाते हैं। बावजूद इसके कि वे अपने समय की के सुचिन्तित प्रतिमान थे। हिन्दी में यह बात आदर्श और पथार्थ की कथा-रचना के द्वंद्व और बदलाव में देखी जा सकती है। पर यथार्थ के बावजूद मन के रसायनों का भावांतरण,सेवेदनात्मक तरलता, स्पर्शिल अंत, यहाँ तक कि प्रचलित शब्द सकारात्मकता भी आदर्श का ही भावतरल द्रवणांक है और बेहतर ईंसानी दुनिया का आंतरिक स्वप्न सर्जक में अंतहीन होता है।

अब कथानक संरचना के रूप भी बदलते हैं। कभी जो वर्णनात्मक था, वह फ्लैशबैक में प्रयोगी बना। कभी जो घटना प्रधान था, वह फेन्टेंसी शिल्प का कथानक बन गया। कभी जो सीमित काल में लघुकथा के रचाव को लेकर चलता था, वह शरद जोशी की लघुकथा 'मैं वही भगीरथ हूँ' में अतीत में छलांग मारकर वर्तमान के क्षण पर मुखर हो गया। कभी चित्रा मुद्गल की लघुकथा 'दूध' में संवादी कथानक रचाकर मुखर हुआ ,तो चैतन्य निवेदी की लघुकथा 'उल्लास' में वर्णनात्मक शिल्प में भी कथाचक्र रच गया।

अब क्या वर्णनात्मक शिल्प को नितांत पुराना बासी कहें और संवादी कथानक को प्रयोगशील? प्रतिमान यही है कि दोनों लघुकथाओं में अपनी तरह की गत्यात्मकता है।अपने शीर्ष संकेत की ओर ले जाने की अपनी राह है। अशोक जैन की' जिन्दा मैं' तो एकांकी का संवादी दृश्य भर है, और मधुदीप की' हिस्से का दूध'तो दो दृश्यों का रूपांतर | इससे अलग सुकेश साहनी की लघुकथा है-'आधी दुनिया'। पुरुष के एकतरफा संवाद पत्नी को झिड़कते हुए। लगता है हर संवाद एक दृश्य बुनता है, गज़ल के शेर की तरह। और अंत में आधी दुनिया का दर्द बयाँ कर जाता है पतित्व के अहंकारी अंदाज से। इसलिए कथानक की परंपरित धारणा को तोड़कर भी लघुकथा बड़े यथार्थ को रच सकती है।बल्कि कई लघुकथाओं को एक लघुकथा में बुन सकती हैं। इस सभी उदाहरणों को सामने रखने का एक ही उद्देश्य है कि संरचना में कथानक के बदलाव को भी अनदेखा न किया जाए| यथार्थ आज का केन्द्रीय विमर्श है, पर यथार्थ भी कथाचक्र में अन्तस्तनावों को, अन्तर्विरोधों को इसतरह बुना गया है जैसे नदी के बहाव में भंवर पड़ते जाते हैं, उलझाते हैं और धीरे से रास्ता निकालकर नदी को फिर बहता कर देते हैं। हाल में जो अल्प शब्द संख्या वाली लघुकथाएँ लिखी जा रही हैं,

, वे एक नकारात्मक संवाद पर एक सकारात्मक संवादको चस्पा करके एक भावपरक स्पर्श दे जाती हैं और उसी क्षण समाप्त भी। पर जब अन्तर्विरोधों,विसंगत परिदृश्यों, जीवन की कुलबुलाहटों से अंतड़ियों को हिलाते हुए। रचना तभी सावयविक बनती है, इंटीग्रेटेड होकर जीवंत इकाई। यही रचना की जैविकता भी है और उसके टिकने का प्रतिमान भी कथानक के सन्दर्भ में इतना कहना औचित्यपूर्ण है कि अंतर्वस्तु के अनुरूप सहज लघु आकार, कथानकीय प्रवाह में अन्तस्तनाव और आकर्षण, लक्ष्य समावेशी संवेदन, परिदृश्य का समानुपाती समावेश, चरित्र या संदेश का तानाबाना और शीर्ष तक पहुँचने के शैलीगत- भाषागत प्रयोग जरूरी है। यह तय है कि यथार्थ अपने समय को रचना में इतिहासबद्ध करता है और लोक का संवेदन मूल्यपरकता के विवेक से ही को असरदार बनता है।

अभी पुराने समीक्षा तत्त्वों की राह पर चलकर ही बात की जाए। इन्हीं में जो सृजन के स्तर पर बदलाव आया है, उसे रेखांकित करते हुए नये प्रस्थान की बात करना उचित होगा। लघुकथा में पात्र संवेदन की संप्रेषणीयता के कारक हैं और स्वयं उस संवेदन के सम्मूर्त रूप भी। संस्कृत समीक्षा शास्त्र में चार प्रकार के पात्र थे-धीरोदात्त, धीर प्रशांत, धीर ललित और धीरोद्धत। अब

ये पात्र संस्कृत नाटकों से ही आए हों तो कालिदास के शाकुंतल और शूद्रक के मृच्छकटिकम् मे भी अंतर आ गया। और जब से आधुनिक कथा साहित्य का सृजन हुआ ती जयशंकर प्रसाद की 'गुंडा' कहानी का नायक ही नायकत्व के झंडे गाड़ गया। यानी धीरोद्धत ही धीरोदात्त सा बन गया। और तब से तो कथा साहित्य के पात्रों में जमीनी- आकाशी अंतर आया है। शिखर धूल चाट गये, और किसान- मजदूर, मजलूम झंडा गाड़ गये। श्रेष्ठता के सामाजिक अधिमान वाले सारे पात्र जब कथा साहित्य से झड़ गये हैं, तो साधारण आदमी के सारे मनोराग, सारी दुर्बलताएँ, सारी शक्तिमत्ता, सारे संघर्ष, सारे सोच, परिवार, समाज और में उसकी केन्द्रीयता, उसकी वैयक्तिक सत्ता अस्मिता और सामाजिक स्वतंत्रता, विवशता और मानवीयता जैसे अनेक अक्स कथा साहित्य में आ गए | कभी उच्च-मध्य-निम्त वर्गीय अवधारणाओं और संघर्ष के साथ, कभी अवचेतन की कुंठाएँ, कभी राजनैतिक-सामाजिक प्रतिरोध, कभी विवश दैन्य की चीख तो कभी संकल्पों की हुँकार। और इन अक्सों के भी कई भीतरी अक्स हैं। और कहना होगा कि ये अक्स, ये संवेदन, ये परिदृश्य ,ये मनोराग, ये अनुभूतियाँ इतने पाश्वों के साथ संजीदा हैं, जिन्हें लघुकथा के कलेवर में ही संघनित अभिव्यक्ति मिल सकती है। आखिर सूरज का अपना आकाश है, और जुगनू के लिए रात के अंधेरे के परिदृष्य में क्षणिक मगर रेखांकन योग्य चमक | हिंदी लघुकथा जुगनू की इस चमक में अपने समय के उजले- अंधेरे अक्सों को इन पात्रों के माध्यम से व्यक्त कर रही है। अब इन पात्रों का शास्त्रीय दृष्टि से वर्गीकरण संगत नहीं है, न ही उसकी सार्थकता सवाल। इतना ही है कि वह पात्र भी कितना स्मरणीय बन जाता है।

ये चरित्र लेखक की तयशुदा मानसिकता के उत्पाद हैं, या किसी वैचारिक हलचल, आदर्श-यथार्थ की टकराहट, परिवर्तन की आकांक्षा, पीढ़ियों के टकराव, यथास्थिति और संवेदनशीलता के द्वंद्व के नये रचाव की सूक्ष्मता युगबोध, नक्काल आधुनिकता पर प्रहार, मुर्दा आस्थाओं का प्रतिकार, किसी सूक्ष्म भाव रसायन की मानवीय अर्थवत्ता या तलस्पर्शी फलसफ़ों से इस तरह सने हों कि लघुकथा के सूक्ष्म आकार में भी चरित्र और कथा एकमेक हो जाएं। पर इससे लघुकथा की अन्विति प्रभावित न हो कभी ली लघुकथा मे चरित्र के दो केन्द्र बन जाते है। कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर की 'इंजीनियर को कोठी 'में केन्द्र तो इंजीनियर है,

पर माली का चरित्र भी उतना ही प्रभावी। इससे चरित्र का केन्द्र स्खलित होता है। इसके बजाय प्रसाद का 'गूदड़ सांई' एक संपूर्ण चरित्र बन जाता है, अविस्मरणीय।

लघुकथा में संवाद सपाटपन, सहजबयानी और वर्णनात्मक ठंडेपन पर प्रहार करते हैं।अपनी जीवंतता, संवेदनीयता और कहन के भीतरी प्रेरकों से। कभी कभी तो लघुकथा का चरमांत कथन अपने में की पूरी ताकत दिखाता है। कभी इनमें प्रहार, कभी छुअनभरी संवेदनीयता, कभी प्रतिकार , कभी दर्शन की गहराई, वहीं प्रतिबोध कहीं व्यथा, कहीं क्रियात्मक संवेग, कहीं भीतरी कुंठा, कहीं मनोवेग, कहीं दोहरापन आदि इसतरह व्यक्त होते हैं कि सारे संवाद चरित्र के आत्मसंघर्ष को नुकीले अंत तक पहुॅचा देते हैं। इनमें कहीं गद्यगीतों का मार्मिक गुंफन, कभी व्यंग्य की मार, कभी खुली चुनौती, कभी आत्मव्यथा आदि संवेग रचना की अपेक्षानुरूप बुन दिये जाते हैं। बल्कि ये संवाद खुद ही लघुकथाकार के मानस पर इस तरह छा जाते हैं कि शब्दों में भाव-तरंगें झंकृत हो जाती हैं।

भाषा-शैली के तेवर इन

लघुकथाओं को संदेश और आस्वाद की दृष्टि से, चेतना और कलात्मक स्थापत्य की दृष्टि से असरदार बनाते हैं। आधुनिक लघुकथाओ' में तो बिंब, प्रतीक, सांकेतिकता, मिथक, विरोधी रंगों का संयोजन या कंट्रास्ट, व्यंग्य, आंचलिकता, शब्दलय और अर्थलय, अन्योक्ति, काव्यात्मक स्पर्श, खड़खड़ाते शब्दों की आग, कभी सम्मूर्तन कभी अमूर्तन, कभी चित्रात्मकता, कभी सांगीतिक प्रभाव कभी संस्मरणात्मक या रेखाचित्रात्मक भाषा, कभी देशी-विदेशी शब्दों की कोडमिक्सिंग से लघुकथा में विन्यास की चालक शक्ति को नियोजित किया जाता है कि लघुकथा का अंत अपने पैनेपन में एक खासतरह की चुभन बन जाता है। पर यह सब रचना की अंतर्वस्तु की प्रेषणीयता पर निर्भर करता है। शब्दों, ध्वनियों, वाक्य योजना के प्रवाह, विराम चिह्नों की सार्थकता या अर्थव्यंजना में सहकारिता, अर्थ की सांकेतिकता आदि का चयन लेखकीय क्षमता का प्रतिमान बन जाता है। फिर शैलीगत प्रयोग तो लघुकथा में निरंतर हो रहे हैं। कथाकथन की शैली से लेकर पंचतंत्रीय शैली तक, संवादात्मक शैली से आत्मकथा या डायरी शैली तक, मिथकीय प्रयोगों से लेकर कालांतरों के परिवर्तन तक।

जहाँ तक परिवेश या केनवास का सवाल है, लघुकथाकार शब्दों की मितव्ययता के साथ परिवेश के नियोजन में भी सार्थक मितव्ययता का ही परिचय देता है। प्रकृति का उतना ही अंश जो लघुकथा की मनःस्थिति का पोषक हो । घर-परिवार का उतना ही नाट्य दृश्य, जो रचना के भीतरी तनाव और संदेश का क का नियोजक हो । एकतरह से सृजन और कतरन एक साथ चलते हैं, सर्जक के भीतर के आलोचक की तरह।बड़ी बात यह कि प्रकृति, जीवन या समाज ये सादृश्य तभी सकारक होते हैं, जब वे लघुकथा की भीतरी जरूरत का अनिवार्य हिस्सा बन जाते हैं। यथार्थ भी, कला भी, परिवेश भी ,संवेदना भी,चित्र भी, मनःस्थिति भी ।

पर बात उस चरमांत की है,जिसे पुरानी भाषा में उद्देश्य कहा जाता है।और ये सारे तत्व, सारे रचाव, सारी यति-गतियाँ, सारे चरम विन्यास, शैलीगत विन्यास इसी पैनी, भाव-संवेदी अर्थवत्ता से जुड़े हैं। लघुकथा की अंत:प्रेरणा से लेकर उसकी व्यंजना तक ।सारे कथा-विन्यास का वात्याचक्र, वैचारिक संवेदन का मर्म, माइक्रोस्कोपिक चित्रण का ऊर्जा बिन्दु, व्यंग्य की मार, संघर्ष के चरमान्त, की चेतना, संवेदना का तर्क, चुभन का एन्द्रिय मनस्तात्विक उद्वेलन, यथार्थ का साक्षात्कार, जड़ता पर कौंधभरी चेतना, पतनशील मूल्यों से मुठभेड़ करता विवेक, अन्तर्विरोधों की सूक्ष्म पकड़ ,लेखकीय

प्रवेश से रहित उसके आंतरिक मनस्ताप वाला व्यक्तित्व इस उद्देश्य में विशिष्ट छाप छोड़ जाते हैं। गेहूँ की बाली का कद छोटा ही होता है, पर सूखने के बाद उसका नुकोला सिरा कितना चुभनदार होता है। इस चुभन में लघुकथा का अंतरंग जितना छुपा होता है, उतना ही पाठक के भीतर का प्रभावी संवेदन भी। पर ये छह तत्व तो सीढ़ियाँ हैं, दरवाजे हैं। नजाने कितनी खिडकियाँ और वातायन हैं, जिनसे कोई कौंध अपनी गमक के सा प्रविष्ट हो जाती है और रचनाकार के भीतरी रसायनों से से श्लिष्ट होकर रूपाकृत हो जाती है। खासकर लघुकथा के लिए इनका कंडेसिंग या संघनन बहुत छोटे आकार में बड़ा संदेश देने की जद्दोजहर करता है। तो भाषिक विन्यास को कितना काटना-पीटना, तराशना, संप्रेषी तत्वों में रचाना एक गहरी तन्मयता और समावेशी कला की मांग करता है। शीर्ष संवेदन की संप्रेषणीयता से सिद्धि के लिए भाषा के तमाम घटक यदि पथार्थ के नुकीले अक्स तक जाएँ, भावतरलता में रूपांतरित करें, ये तर्क से पाठक की चौखट को खटखटाएँ, नये शिल्प के प्रभावक बनें, पुराने शिल्प में नयी संवेदना के संवाहक बनें तो लघुकथा पाठक भी पूँजी बन जाती है। कोई तर्क, कोई संवेदना, यथार्थ का कोई सिरा तीर की तरह राह चीरता हुआ पाठक तक पहुँच जाए और उसके हृदय-मस्तिष्क मे टन्न बजा दे ।

ये सारी बातें पुरानी भी हैं और बहुत कुछ नयी भी, बल्कि अभिव्यक्ति में प्रयोगी भी। पर कुछ अच्छी लघुकथाओं के आधार पर कहूँगा कि सावयविक अंतर्ग्रथन (organik unity) जरूरी है। बुनावट में यह संवेदन और भाषिक विन्यास की बुनी हुई मित्रता है, उसके नाट्य और विज्युअल रूप में।कई बार इनके भीतर यथार्थ का पठार और गद्यगीत की भावुकता मैत्री करते हुए गड्मड्ड हो जाते हैं। जो प्रतीक या चरित्र उभरते हैं, वे संपूर्णता में खुद को विकसित नहीं कर पाते। पर मूल संघर्ष और उसकी वांछित परिणति के निर्मायक बन जाते हैं। लेखक पात्रों को अपने तोतारटंत संवादों से नहीं लादता, बल्कि नेपथ्य में ही संवेदना का अंग बन जाता है।

और इस सब के लिए शिल्प की चालक शक्ति ही कारगर है, बिना किसी नक्काशी के, बिना जड़ाऊ शिल्प के | सार्थकता संवेदनात्मक चरमान्त के साथ पाठकीय प्रवेश में है। इसीलिए बहुत ज्यादा अमूर्तन या

सपाटपन से पाठक दरवाजे पर ही ठिठक जाएगा। चाहे झनझनाए, तरल कर दे, उदात्त बनाये, तर्क खड़ा करे, यधार्थ के किसी कोने को शीर्ष बनाए, कभी नयी मर्यादा गढ़े, पुराने को खंडित करे, विरोध की तनी हुई मुट्ठी बने,विसंगति के खिलाफ प्रतिपक्ष या प्रतिरोध बने, पर लघुकथा समकाल की वैचारिकी से भरीपूरी हो और रचाव मे अन्तस्तंतुओं से इतनी गहरी बुनी हो कि उसनके किसी हिस्से को काटना, या बदलना नामुमकिन हो जाए।

लघुकथा की वस्तुपरक (objective) पड़ताल के अतिरिक्त एक पक्ष और है मूल्यांकन का | तब नये बिन्दु उमरते हैं - रचना का यथार्थ और जीवन का यथार्थ। कई लोग इनके सीधे तुलना करते हैं, तो कई रचना के यथार्थ को विशिष्ट मानते हैं। इसलिए भी कि रचना में कलात्मक संप्रेषण के साथ रचनाकार की सृजन- भूमि के मनस्तत्व वैचारिकी से संश्लिष्ट होते है। कई बार कल्पना और कला तत्व उसे स्थूल यथार्थ की अपेक्षा संवेदनीय यथार्थ में इसतरह विन्यस्त कर देते हैं कि जीवन की धड़कन ही विशिष्ट हो जाती है। पर जो मूल्यगत प्रतिमान होते हैं, उन्हें आलोचक विचारधारा, अपनी आलोचना दृष्टि और पूर्वाग्रहों से परखता है, तो विवाद भी होते हैं। देखना तो यह भी चाहिए कि लेखक जिस उद्देश्य को लेकर चला है, वह रचना से संप्रेषित होता है या संदेश और रचना के विन्यास में कोई खोट है। मूल्यग्गत प्रतिमान सब्जेक्टिव या विचारधाराओं की प्रतिबद्धता लिए हों तो परिणाम भी वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकते। असल में तीन चरण हो सकते हैं- रचना के भीतर दो-तीन

बार अन्तर्यात्रा। रचना की भाषा से रचना का सूक्ष्म विश्लेषण। सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर रचना की मूल्यगत पड़ताल और जीवन सापेक्षता | इससे रचना केन्द्र में रहेगी और मूल्य प्रतिमान रचनापेक्षी।इस लंबे विमर्श में विमर्शों की भी अपनी भूमिका है, क्योंकि वे समकालीनता का चर्चित पक्ष होते हैं। व्यापक तौर पर ये वैचारिक विवेक के पक्षधर हैं;जो सामाजिक रूप से मानव नियति को समता और बेहतर जीवन तक ले जाते हैं। चाहे जेण्डर समता हो, वर्गीय विषमता का संघर्ष हो, तकनीक और जीवन का पक्ष हो, पर्यावरण 'और जैविक संतुलन का पक्ष हो । पर इन सबसे साक्षात्कार लेखक की वैचारिकी का हिस्सा है। यह हिस्सा सृजनात्मक बनकर रचना में आए, न कि विचारधारा के साधन के रूप में । विमर्शों से रचना का कथ्य लदा न हो, वल्कि विमर्श पात्रों की चेतना और कथ्य का सहज पक्ष बनें। यह भी कि रचनाएं विमर्श को नये कोण दें ,संवेदना के नये अक्स दें और विमर्श इस सृजनात्मकता से अधिक समृद्ध हों।

इतना सब कहने के बावजूद लघुकथा और उसकी समालोचना में "इदमित्थम्' तो नहीं हो पाता। बात तभी सार्थक लगती है, जब रचना के ध्वनि पक्ष से लेकर उसके सारे भाषिक तत्वों से गुजरा जाए। मुक्तिबोध इस रूप में संगत लगते हैं कि रचनाकार भाषा के सिंहद्वार से बाहर आता है।तो आलोचक भाषा के सिंहद्वार से रचना में प्रवेश करता है। पाठक रचना का सहयात्री बन जाए और आलोचक रचना की भाषिक संरचना से ध्वनित संदेश का वस्तुपरक-मूल्यपरक मूल्यांकन करें।